युद्ध और बुद्ध

मधु कांकरिया

युद्ध और बुद्ध

वे आंखें कभी नहीं भूलेंगी।

न वह दिन।

न वह तारीख।

खाली होते ही दोने में धरे दीपक की तरह यादों की नदी मुझे बहा ले जाती है वहां जहां उम्र के इस टीले पर खड़े हो पीछे मुड़कर देखता हूं तो पाता हूं कि मेरा असली 'मैं', मेरा असली चेहरा पीछे कहीं दूर बहुत दूर छिप गया है कि मैं अपने से दूर बहुत दूर जा चुका हूं—"मैं ढूंढ़ रहा हूं कब से, वह चेहरा जो मेरा था।"

यह सारा अफसाना उसी खोए चेहरे का है क्योंकि मेरे साथ दिक्कत यह थी कि मैं मेजर विशाल राणावत सिर्फ एक समर्पित और कर्त्तव्यनिष्ठ फौजी ही नहीं था, फौजी के अलावा भी कुछ और था।

यह सारी कहानी उस कुछ और की है। सोचकर अजीब लगता है कि मैं मेजर विशाल राणावत कोई व्यक्ति नहीं मात्र कुछ तारीखों का गुच्छा भर हूं।

पहली तारीख मुझे याद नहीं है, बस इतना भर याद है कि उन दिनों मीठा-मीठा मुस्कराता रहता था और सोचता रहता था कि मैं कब फौजी बनूंगा। क्योंकि उन दिनों जादू और रोमांस से भरा फौजी शब्द मुझे ईश्वर की सबसे बड़ी नियामत लगता था। अठारह वर्ष की उम्र। अबोध अनजान दुनिया और आर्मी का जादू। मेरे दूर के रिश्ते की बहन के पति फौज में कर्नल थे। जब-जब वे मुझे मिलते, मैं लहर-लहर हिल उठता उनके एक-एक ठहाके पर। बचपन की उम्र में भी वे इतने भड़क और कुरकुरे थे जितना कि शायद मैं अपने बचपन में भी नहीं था। और मेरे पिता लाहौल बिलाकूवत! पैंतालीस वर्षीय मेरे पिता उनके सामने इतने थुलथुल, बीमार और सिलवटों से भरे दिखते थे कि मैं विरक्ति से भर उठता था और सोचता था कि मैं कब फौजी बनूंगा? पिता के माथे पर हर वक्त सिलवटें खिंची रहतीं, उनका चेहरा हमेशा झुंझलाया रहता और उनकी बनिया खोपड़ी में हमेशा नफे-नुकसान का हिसाब-किताब चलता रहता। वित्त सत्य ही उनका जीवन सत्य था और वे उसी को समर्पित थे। उनकी जैसी स्टिल लाइफ मुझमें वितृष्णा जगाती। उनके और उनके माथे पर स्थायी रूप से खिंची रहने वाली सिलवटों के बीच वही रिश्ता था जो फौजी और उनकी बंदूक के बीच होता है। उन दिनों मेरे जेहन, दिल-दिमाग, स्वप्न और चेतना सब पर फौजी छाया रहता और मैं सोचता कि मैं क्या करूं कि फौजी बन जाऊं। बहुत जतन से पाली अपनी फौजी बनने की इच्छा को मैं हर दिन सींचता कि वह कुम्हला न जाए और अकसर अपने उन फौजी जीजू की नकल करता, उनके जैसे ही ठहाका मारकर हंसता। उनके जैसे ही कड़क चाल चलता। चलते वक्त यह विशेष खयाल रखता कि मेरे जूतों से भी वैसी ही आत्मविश्वास से भरी ठकठक निकले जो फौजी जीजू के जूतों से निकलती थी। मैं खूब दूध पीता, फल खाता कि मेरा सीना चौड़ा हो जाए। मैं खूब तंदुरुस्त दिखूं और फिजिकल फिटनेस टेस्ट में मात न खा जाऊं।

मैं मेजर विशाल राणावत उस दौर की पटकथा लिख रहा हूं जिन दिनों मुझे राष्ट्रीय राइफल्स 24 में भारत के सबसे संवेदनशील इलाके गुंड गांव में अल्फा कंपनी का कंपनी कमांडर बनाकर भेज दिया गया था। 2002 का वह समय जब दिल्ली में लालकिले से शांति के प्रतीक कबूतरों को उड़ाया जा रहा था और कश्मीर में गोले बरस रहे थे। हालांकि हिंसा, खूनखराबा और बमबारी का ग्राफ शीर्ष पर पहुंचकर अब अवरोही मोड़ लेने लगा था। इस अवरोही मोड़ तक पहुंचने के लिए कितना दिमाग आर्मी ने खपाया था, कितना इनसानी खून बहा था और कितना क्षरण इनसानियत का हुआ था, इसका हिसाब तो शायद कोई चंद्रमुख भी न रख सके। बहरहाल हमारा मिशन था, इस अवरोही मोड़ को बरकरार रखते हुए कश्मीर के हालात का सामान्यीकरण और इस समान्यीकरण का मतलब था बहुत सुंदर और मानवीय का सफाया।

'मिलिट्री' और 'मिलिटेंट' ये दो शब्द ऐसे थे जो उन दिनों धूप और हवा की तरह कश्मीर की फिजा में रच-बस गए थे। हर नुक्कड़ पर फौजी। हर फौजी की आंख में एक सपना और हर सपने में मिलिटेंट का सफाया।

मैंने भी सपनों के कुछ गुच्छों के साथ कश्मीर की खूबसूरत वादियों में कदम रखा था। वे सपने थे—राष्ट्र की एकता,